THE TIMES OF INDIA

Date: 24-03-18

Not By Toilets Alone

Swachh Bharat needs better aesthetic standards to back hygiene

Dipankar Gupta,[Dipankar Gupta is a sociologist and public intellectual.]

When Swachh Bharat was inaugurated it seemed to raise the broom, but resident filth was difficult to dislodge. Rivers remained opaque and, in spite of health warnings, landfills went on smoking.At the same time, undeniably, more toilets were built than ever before. While between 1986 and 1999 about 9.4 million lavatories were constructed, Swachh Bharat, in the past four years alone, built about 49 million more. Yet, the sight and smell of India remain dirty; piles of garbage, cows gorging on plastic, dirty rivers, filthy drains. Together these comprise health hazards like nothing else. This tells us that Swachh Bharat cannot be accomplished by toilets alone.

While toilets can be constructed on a mission mode, using them and becoming conscious of cleanliness is a different matter. None of that can happen without a mindset change as even the ministry of drinking water and sanitation has acknowledged. This is the most difficult job. Nor has the presence of toilets, even when readymade and handed out on a pan, created an atmosphere that encourages cleanliness. It is often said that India is dirty because everything associated with pollution and filth is for the so-called lower castes to clean. Yet, if the subaltern people were meant to do all the dirty work, why then are their habitations unclean as well?

Assuming that in the next four years all, or nearly all, Indian households will have toilets, will that make this country noticeably clean? Chances are that it will not. According to a conservative government figure, post-Swachh Bharat there is piped water in 1.5 lakh out of 2.45 lakh villages that have indoor toilets. Further, the National Sample Survey Organisation (NSSO) also shows that over 80% of rural households in 2014 reported that they had improved sources of drinking water since 2012. That, however, has not changed the fact that only 6.4% of villagers dump garbage in a designated dumping spot. What then are the main drain blocks to Swachh Bharat? At this point, it is tempting to turn to European history for an answer as our notions of civic cleanliness are largely drawn from western experiences. But the differences between us and them are really quite vast. Nevertheless, by plotting these variations we might get an idea of how to add depth to mission 'clean India'.

First, the sanitation drive in the western world began as early as in the mid 1850s, way ahead of anything along those lines in India. Clearly, they have a head start over us.

Second, Europeans, unlike caste Indians, do not believe that what leaves our body, such as excreta, sweat, or even hair, is polluting. Consequently, they have little revulsion, or inhibition, in cleaning the dirt they create.

Third, manual scavenging was not looked down upon in Europe. Even in 19th century England, many took up this job willingly because they made good money out of it. Such people were known as "gong farmers", and it was a job to covet if you wanted to get rich quick.

Fourth, and perhaps most importantly, all over the western world, "miasma" and high smell were associated with fever. Therefore, when the River Thames was declared the "big stink" in the mid 1850s, British law makers were concerned as even the curtains in Parliament began to smell high. In 1878, survivors of a capsized steamer named Princess Alice feared the smell of the river more than the engulfing water of Thames. Rumour has it that a rhinoceros in London zoo died in 1873 because of this stench. Such was the power of the theory of smell and "miasma".

The theory of "miasma" was subsequently proved wrong. It was replaced in the late 19th century by the "germ theory" of Pasteur and Koch (even earlier, if we consider John Snow's study of how cholera spread). Nevertheless, the belief in "miasma" pointed to environmental factors behind ill health. This helped in creating the right ideological climate for accepting public sanitation and hygiene. Edwin Chadwick's 1842 report on sanitary conditions in Britain was premised on the theory of fevers and by 1871, a full-fledged department was formed to look after sanitation in UK. Environment, however, plays an insignificant role in Ayurveda. Consequently, unlike the conception of "miasma" in Europe, the Indian system of medicine does not connect open filth and stink with ill health. Even seasonal fevers, like vattaja jwara (monsoon fever), pittaja jwara (autumn fever) or kaphaja jwara (spring fever), are not really attributed to surroundings outside the body. Illness is internal balance gone wrong and the external world is largely neutral.

Hence, connecting good health to a clean environment does not come as easily to us as it does to those who fear "miasma". Therefore, toilets alone will be of limited use unless the Swachh Bharat programme also creates an abhorrence towards the sight and smell of filth. As this is a different aesthetic it needs a combination of persuasion and law to promote. What must we face squarely to make this happen? It is important to launch an all out aesthetic war against the caste ideology that values inner body purity over external cleanliness. Unfortunately, we don't have the theory of "miasma" riding shotgun with Swachh Bharat.Toilets without public hygiene is like a broom without a brush!

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 24-03-18

अमेरिकी संरक्षणवाद और भारत की स्थिति

अगर हालात बदलते हैं तो भारत भी उससे बचा नहीं रह सकेगा। चीन और यूरोपीय संघ अमेरिकी शुल्क का पहले ही प्रतिरोध कर रहे हैं।

अभीक बरुआ, (लेखक एचडीएफसी बैंक के मुख्य अर्थशास्त्री हैं। लेख में प्रस्तुत विचार निजी हैं।)

यह विडंबना ही है कि अमेरिका के राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप स्टील और एल्युमीनियम पर शुल्क लगाकर जिस देश को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाने वाले हैं वह खुद उनका ही है। अमेरिका में इतनी क्षमता नहीं है कि वह अपनी धातु की मांग को खुद पूरा कर सके। उस पैमाने पर उत्पादन बढ़ाने में उसे कई साल लगेंगे क्योंकि उसकी तमाम धातु फैक्टरियां विनिर्माण कॉरिडोर का हिस्सा हैं। इन बातों के चलते न केवल उत्पादन की लागत काफी ज्यादा है और प्रतिस्पर्धा में भी कमी आई है। जबकि स्टील विमानन, विनिर्माण, पाइपलाइन आदि के क्षेत्र में अहम कच्चा माल है। अमेरिकी स्टील उद्योग में 1.40 लाख कामगार हैं जबकि स्टील की खपत वाले उद्योगों में 65 लाख श्रमिक हैं। इन आंकड़ों से एक सीधी तस्वीर सामने आती है कि आखिर स्टील पर शुल्क से क्या नफा-नुकसान होने वाला है। यही बात एल्युमीनियम पर भी लागू होती है।

इसके अलावा इसके प्रत्युत्तर में भी जैसे को तैसा का जवाब मिलने की उम्मीद है। यूरोपीय संघ ने पहले ही अमेरिकी निर्यात पर दंडात्मक शुल्क लगाने की धमकी दे दी है। ऐसे में गलत व्यापार नीति का असर अमेरिका के कामगारों पर पडऩा तय नजर आ रहा है। बहरहाल, तथ्य यह है कि अमेरिका ने खुद को नुकसान पहुंचा लिया है जबकि भारत इससे बचा रहेगा। भारत बहुत अधिक स्टील या एल्युमीनियम निर्यात नहीं करता। अमेरिका के स्टील और एल्युमीनियम निर्यात में भारत की हिस्सेदारी क्रमश: 2 फीसदी और 1 फीसदी की है। परंतु इतने भर से पूरी राहत नहीं मिलती क्योंकि भारत वैश्विक निर्यात में अच्छी खासी हिस्सेदारी रखता है। वर्ष 2016-17 में जब कुल निर्यात 5 फीसदी बढ़ा तो लोहे और स्टील का निर्यात 58 फीसदी उछला था। एल्युमीनियम एवं संबद्घ वस्तुओं का निर्यात 23 फीसदी बढ़ा था।

अमेरिकी संरक्षणवादी नीतियों के चलते वैश्विक बाजार का आकार घटेगा और उत्पादक देशों के बीच प्रतिस्पर्धा में इजाफा होगा। इससे न केवल निर्यात के आकार में कमी आने की आशंका है बल्कि मुनाफे में भी कमी आएगी। स्पष्ट है कि व्यापक घरेलू खपत वाले देश बेहतर स्थिति में रहेंगे। अमेरिका के निशाने पर भले ही चीन हो लेकिन उसकी घरेलू खपत भारत की तुलना में बहुत अधिक है। इससे एक रोचक दृश्य उत्पन्न होता है। अमेरिका कनाडा और मैक्सिको जैसे कारोबारी साझेदार देशों को रियायतें देते हुए शुल्क जितना कम करेगा, इन उत्पादक देशों के लिए बचे हुए बाजार में अपना उत्पाद भेजने की अनिवार्यता उतनी ही कम होगी। ऐसे में भारत को अमेरिका के चयनित संरक्षणवाद का लाभ हो सकता है, भले ही वह सीधा लाभार्थी न हो। परंतु केवल उतना पर्याप्त नहीं होगा हमें अपने स्तर पर भी प्रयास करने होंगे। उदाहरण के लिए अमेरिकी संरक्षणवाद घरेलू बुनियादी ढांचागत परियोजनाओं पर जोर देने की भी वजह है। कुछ विश्लेषकों का कहना है कि आयातित धातुओं की उच्च लागत से मुद्रास्फीति का दबाव बढ़ेगा। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अमेरिकी केंद्रीय बैंक फेडरल रिजर्व ब्याज दरों में मौजूदा अनुमान की तुलना में कहीं अधिक इजाफा कर सकता है। अमेरिका में उच्च ब्याज दर के चलते डॉलर और अधिक मजबूत होगा।

यह दलील तार्किक प्रतीत होती है लेकिन इसमें अलग तरह की समस्याएं हैं। अमेरिकी आर्थिक नीति में मौजूदा बदलाव से जुड़ी दो बातें ऐसी हैं जो शायद मुद्रा बाजार को पसंद न आएं। पहली बात, हाल ही में कर कटौती की घोषणा की गई है जो बजट घाटे में इजाफा करती है। अगले कुछ वर्षों तक अमेरिकी बजट घाटे में एक लाख करोड़ डॉलर तक का इजाफा हो सकता है। दूसरी बात का संबंध आयात शुल्क से है। आयात शुल्क बढ़ाने की घोषणा का असर डॉलर और शेयर बाजार पर हुआ और वहां जमकर बिकवाली हुई। ऐसे में मौजूदा माहौल डॉलर के लिए नकारात्मक है। ऐसे में यह

देखना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि आखिर ऐसा क्यों हो रहा है। राजकोषीय विस्तार और संरक्षणवाद, इन दोनों के चलते चालू खाते पर दबाव बढ़ता है। संरक्षणवाद आयात की लागत बढ़ाकर इसमें मदद करता है। यह अमेरिका को दोहरे घाटे की जटिल समस्या में उलझा देगा। चीन जो कि अमेरिका की सरकारी बॉन्ड का सबसे बड़ा खरीदार है, वह अगर प्रतिरोध स्वरूप अतिरिक्त खरीद के बजाय अमेरिकी बॉन्ड की बिकवाली शुरू कर देता है तो जो असंतुलन उत्पन्न होगा उसकी भरपाई करना खासा मुश्किल हो जाएगा। एक संभावना यह नजर आती है कि अमेरिका में ब्याज दरों में तेजी से इजाफा हो जबकि डॉलर की कीमत कम हो।

डॉलर की कीमतों में गिरावट का अर्थ होगा रुपये में मजबूती आना। बढ़ता संरक्षणवाद पहले ही विश्व व्यापार पर नकारात्मक असर डाल रहा है, ऐसे में रुपये की मजबूती को कतई अच्छा नहीं माना जा सकता है। उस दृष्टि से देखा जाए तो रुपये और डॉलर की दरों को लेकर भी तस्वीर बहुत उत्साहवर्धक नहीं होगी। डॉलर का प्रदर्शन और उसकी प्रतिस्पर्धी मुद्राओं का प्रदर्शन ऐसे में अहम हो जाता है। यह सच है कि रुपया वर्ष 2017 में इस क्षेत्र की सबसे बेहतर स्थिति वाली मुद्रा का दर्जा पाने में कामयाब रहा था और वर्ष 2018 में उसका वह दर्जा छिन गया है लेकिन यह कतई निराश होने वाली बात नहीं है। बल्कि यह उत्साहित करने वाली बात है।

इस बात की भी काफी संभावना है कि अमेरिका शुल्क समाप्त कर दे या फिर वह ऐसी तमाम शर्त रखे जिनकी बदौलत वे निष्प्रभावी हो जाएं। हालिया इतिहास पर नजर डालें तो ऐसे संकेत नजर आने लगे हैं। स्टील पर लगने वाला शुल्क भी नया नहीं है। जॉर्ज डब्ल्यू बुश के प्रशासन ने सन 2002 में स्टील टैरिफ लागू किया था। उसकी वजह से अर्थव्यवस्था को करीब 20,000 रोजगार गंवाने पड़े थे। ठीक अगले साल यानी 2003 में यह शुल्क हटा लिया गया था। इस दृष्टि से देखें तो संरक्षणवादी कदम लागू करने और उनसे सकारात्मक परिणाम हासिल करने की अपनी एक सीमा है। सच तो यही है कि वैश्विक स्तर पर व्यापारिक युद्घ से किसी का भला नहीं होने वाला है। अगर हालात और अधिक बिगडऩे शुरू हुए और चीन और यूरोपीय संघ ने अमेरिकी शुल्क वृद्घि का जोरदार प्रतिरोध किया तो भारत के लिए भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं रह जाएगी। ऐसे में हमें वर्ष के दौरान अपनी वृद्घि के अनुमानों पर नए सिरे से दृष्टि डालनी होगी और बड़े पैमाने पर कारोबारी जंग के लिए तैयार रहना होगा।

Date: 24-03-18

निजीकरण का तरीका

टी. एन. नाइनन

हमारे देश में निजीकरण बाजार के स्तर पर होता है, न कि उद्यमों के स्तर पर। हिंदुस्तान जिंक और अब बंद हो चुकी मॉडर्न फूड जैसी बहुत कम कंपनियों का निजीकरण हुआ है। इसके विपरीत कई बाजारों के द्वार खुलने के बाद निजी क्षेत्र ने उन पर कब्जा करने में सफलता पाई है। उसने हमेशा यह सफलता सरकारी क्षेत्र के पुराने खिलाडिय़ों पर श्रेष्ठता साबित करके हासिल की है। यह बदलाव कई क्षेत्रों में देखने को मिला है। विमानन, दूरसंचार, औषधि और शिक्षा क्षेत्र इसके उदाहरण हैं। उपभोक्ताओं को भी हमेशा इससे लाभ ही हुआ है क्योंकि उन्हें उत्पाद और सेवाओं के विकल्प मिले हैं।

कंपनियों के बजाय बाजार का निजीकरण करने की इस कवायद की कीमत भी चुकानी पड़ रही है। भारत अभी भी एक नरम शक्ति वाला देश है और सरकार अब तक सरकारी उपक्रमों को बाजार में अपने दम पर कारोबार करने और बिकने या खत्म होने देने के लिए तैयार नहीं है। इसके बजाय हिंदुस्तान एंटीबायोटिक्स जैसी कंपनियों की तरह वह इनका परिचालन कर रही है, हालांकि उसे राजस्व से पांच गुना तक नुकसान उठाना पड़ रहा है। इन दिनों एयर इंडिया का मामला सुर्खियों में है। एयर इंडिया की तरह दूरसंचार क्षेत्र की भारत संचार निगम और महानगर टेलीफोन निगम को भी काफी समय तक भारी घाटे के के साथ चलाया गया। इनमें भारी पूंजी निवेश किया गया। इन तीनों कंपनियों का सालाना घाटा 11,600 करोड़ रुपये तक रहा है।

बदलते हुए बाजारों और नाकाम संस्थानों के बीच जरा बैंकों के भविष्य पर विचार कीजिए। यह मानना सुरक्षित कहलाएगा कि निजी बैंकों को बड़ी हिस्सेदारी मिलेगी जो मौजूदा 30 फीसदी से अधिक होगी। पांच या उससे अधिक सालों में वे इसे 50 फीसदी से ऊपर ले जा पाएंगे या नहीं, यह देखना होगा। मुद्दा यह है कि धीरे-धीरे बैंकों के बेहतरीन ग्राहक उनसे दूर होते जाएंगे। इस बीच वे नई तकनीक अपनाएंगे और ऋण के जोखिम के आकलन के नए-नए तरीके तलाश करेंगे। इससे उनके वित्तीय नतीजे बेहतर होंगे। ऐसे परिणामों से शेयर बाजार में उच्च मूल्यांकन हासिल होगा। गौरतलब है कि अभी बाजार पूंजीकरण के मामले में शीर्ष नौ में से आठ बैंक निजी क्षेत्र के हैं। यानी उनकी पहुंच सस्ती पूंजी तक है। पूंजी की जद्दोजहद वाले बाजार में यह प्रतिस्पर्धी बढ़त है। अगर कुछ सरकारी बैंकों की हालत कल एयर इंडिया या एमटीएनएल जैसी हो जाए तो? यानी वे ऐसे उपक्रम बन जाएं जिनका बाजार समाप्त हो चुका हो, उनको पूंजी की आवश्यकता हो और वे बेहतर प्रतिस्पर्धा के लायक न रह गए हों तथा पुराने पड़ रहे हों, कर्मचारी श्रम संगठनों से जुड़े हों और आधुनिक तकनीक से दूर हों और सेवा को लेकर उनका रुख सही न हो तो क्या होगा? लोग निजीकरण की बात कर रहे हैं लेकिन वह बहुत दूर की कौड़ी है। अगर स्टेट बैंक के अलावा किसी बैंक की बिक्री होती है तो उसकी कीमत बहुत मामूली होगी और कोई सरकार ऐसा करने का साहस नहीं जुटा सकेगी। यहां इस सवाल पर विचार करना आवश्यक है कि तब क्या? इन बैंकों को नई पूंजी की आवश्यकता होगी जो करदाताओं से आएगी।

करदाताओं पर पहले ही काफी बोझ है और यह नया बोझ एयर इंडिया के बोझ से कई गुना ज्यादा हो सकता है। निश्चित तौर पर यह बोझ पहले ही काफी ज्यादा है और एयर इंडिया पर भी मामूली कर्ज नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में लोग दूर हो रहे हैं लेकिन फिर भी सरकारी शिक्षण संस्थान चालू हैं। यहां भी निजी संस्थानों ने धीरे-धीरे सरकारी संस्थानों पर बढ़त हासिल कर ली है। मुंबई में नगर निकाय द्वारा संचालित दर्जनों विद्यालय बंद हो गए क्योंकि उनके यहां छात्र ही नहीं आते। लेकिन क्या उन शिक्षकों को हटाया जा सकता है? दिल्ली के सरकारी विद्यालयों में प्रति छात्र लागत बढ़कर 6,000 रुपये मासिक हो चुकी है। ऐसा इसलिए क्योंकि कम छात्र होने से भी लागत बढ़ती है। यह लागत कई बेहतर निजी विद्यालयों की लागत के समान है और आगे जैसे-जैसे छात्र सरकारी विद्यालय छोड़ेंगे यह लागत और बढ़ेगी। ऐसे में जोखिम यह है कि एक और ऐसा क्षेत्र विकसित हो जाए जहां पैसा तो सरकार का लगता हो लेकिन ग्राहक कहीं और हों। संक्षेप में कहें तो बाजार के निजीकरण की नीति एक उद्देश्य की पूर्ति करती है। वहां ग्राहक को फायदा पहुंचता है। सरकारी उपक्रमों में बजट संबंधी दिक्कतों से जुड़ी बातों को समझना होगा। साथ ही अगर वे बेहतर प्रदर्शन नहीं करेंगे तो उनका बंद होना या बिक जाना ही उचित है। अगर ऐसा नहीं होता है तो करदाताओं को इसकी कीमत चुकानी होगी।

दैनिक जागरण

Date: 24-03-18

गोपनीयता से खिलवाड़

सोशल साइट्स के ग्राहकों के हितों की रक्षा को लेकर जो नियम-कानून हैं उनकी नए सिरे से समीक्षा की जाएगी

संपादकीय

अमेरिका समेत अन्य देशों के फेसबुक उपभोक्ताओं का डाटा चोरी कर उसका इस्तेमाल चुनावों को प्रभावित करने में किए जाने का खुलासा जितना सनसनीखेज है उतना ही चिंताजनक भी। इस मामले में केवल इतने से संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि फेसबुक के प्रमुख मार्क जुकरबर्ग ने माफी मांग ली, क्योंकि जब तक इस तरह की चोरी को रोकने के लिए ठोस उपाय नहीं किए जाते तब तक डाटा चोरी का खतरा बना ही रहेगा। यह खतरा इसलिए और बढ़ गया है, क्योंकि दुनिया भर में राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार रहते हैं। इस क्रम में वे सोशल साइट्स पर सक्रिय लोगों के सोच-विचार को छल-छद्म से प्रभावित करने का भी काम करते हैं। इसकी पुष्टि ब्रिटिश कंपनी कैंब्रिज एनालिटिका पर लगे इस आरोप से होती है कि उसने करीब पांच करोड़ फेसबुक उपभोक्ताओं का डाटा चोरी करके उसका इस्तेमाल दुनिया के विभिन्न नेताओं की मदद के लिए किया। इन नेताओं में अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप भी हैं। अंदेशा है कि चोरी किए गए फेसबुक डाटा का दुरुपयोग ब्रिटेन के यूरोपीय समुदाय से अलग होने को लेकर कराए गए जनमत संग्रह यानी ब्रेक्जिट के दौरान भी किया गया। कहना कठिन है कि ऐसा ही काम भारत में किया गया या नहीं, लेकिन कैंब्रिज एनालिटिका की सहयोगी कंपनी ने यह स्वीकार करके संदेह बढ़ा दिया है कि उसने यहां के कई दलों को अपनी सेवाएं दी हैं। क्या यह जाना जा सकता है कि सेवाएं देने के नाम पर क्या किया गया-चुनाव में प्रभावी मसलों की जानकारी भर जुटाई गई या फिर सोशल मीडिया पर सक्रिय लोगों के राजनीतिक रुझान को प्रभावित भी किया गया?

अब इसमें दोराय नहीं कि सोशल मीडिया के जरिये सुनियोजित अभियान चलाकर लोगों की राजनीतिक पसंद-नापसंद को बदलने की कोशिश की जाती है। कई बार इसमें सफलता भी मिलती है, क्योंकि सोशल मीडिया पर सक्रिय सभी लोग इससे परिचित नहीं होते कि उनके समक्ष जो सूचनाएं आ रही हैं वे उनके राजनीतिक रुझान का विधिवत आकलन करने के बाद एक खास इरादे से आ रही हैं। जागरूकता के अभाव में कई लोग इस तरह की प्रचार सामग्री से आसानी से प्रभावित भी हो जाते हैं। अब जब यह स्पष्ट हो चुका है कि सोशल मीडिया पर सुनियोजित प्रचार अभियान चलाकर लोगों के राजनीतिक मिजाज को बदलने की कोशिश की जाने लगी है तब केवल आरोप-प्रत्यारोप से काम चलने वाला नहीं है। जरूरत इसकी है कि जैसे आधार कार्ड के तहत दी गई निजी जानकारी का उपयोग अनुमति के बगैर न करने देने को लेकर सक्रियता दिखाई जा रही है वैसे ही इस मामले में भी दिखाई जाए। सोशल मीडिया प्लेटफार्म पर सक्रिय लोगों का डाटा चोरी कर उसका राजनीतिक इस्तेमाल किया जाना निजता का खुला उल्लंघन भी है। यह ठीक है कि सूचना एवं प्रौद्योगिकी मंत्री रविशंकर प्रसाद ने फेसबुक को चेताते हुए यह कहा कि सोशल साइट्स के ग्राहकों के हितों की रक्षा को लेकर जो नियम-कानून हैं उनकी नए सिरे से समीक्षा की जाएगी, लेकिन उन्हें यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि सोशल मीडिया साइट्स भारत में भारतीय कानूनों के हिसाब से ही चलें।

नईदुनिया

Date: 24-03-18

संसद विपक्ष के हंगामे से जूझ रही है, संसद को चलाने की पूरी जिम्मेदारी सत्तापक्ष की होती है

मुख्य संपादकीय

संसद का एक अन्य दिन हंगामे की भेंट चढ़ने के साथ ही एक और सप्ताह बिना किसी खास कामकाज के निकल गया। कहना कठिन है कि अगले सप्ताह स्थितियों में कुछ परिवर्तन होगा, क्योंकि विपक्ष के साथ सत्तापक्ष की भी दिलचस्पी इसमें नहीं नजर आती कि संसद चले। यह ठीक है कि वित्त विधेयक पारित हो गया है और सरकार के एजेंडे में कोई महत्वपूर्ण विधेयक नहीं दिख रहा है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वह संसद को चलाने के प्रति सचेत न दिखे। समझना कठिन है कि सरकार विपक्ष के साथ कोई समझ-बूझ कायम क्यों नहीं करती?

आखिर इसका क्या मतलब कि जब 15 दिन हंगामे में बर्बाद हो गए तब संसदीय कार्यमंत्री को विपक्षी नेताओं से मेल-मुलाकात करने की याद आई? आखिर यह काम पहले क्यों नहीं हो सकता था? यह सही है कि अगर विपक्षी दलों के सांसद सदन कूप में नारेबाजी करने को आतुर रहें और सदन अव्यवस्था से ग्रस्त बना रहे तो संसद का चलना मुश्किल है, लेकिन सत्तापक्ष इसकी अनदेखी नहीं कर सकता कि संसद चलाने की जिम्मेदारी उसकी ही है और इस जिम्मेदारी का निर्वहन तब हो पाता है जब विपक्ष की मांगों-मुद्दों के प्रति लचीला रवैया अपनाया जाता है। सत्तापक्ष को यह आभास होना चाहिए कि उसके प्रति ऐसी धारणा बनना ठीक नहीं कि वह विपक्ष को सुनने-समझने के लिए तैयार ही नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं कि सत्तापक्ष अविश्वास प्रस्ताव से बचना चाह रहा है? यह प्रश्न इसलिए, क्योंकि तेलुगु देसम पार्टी के राजग से बाहर होने और शिवसेना के ढुलमुल रवैये के बाद सरकार के नीति-नियंता यह सोच सकते हैं कि चुनावी वर्ष में उसके संख्याबल में कमी दिखना ठीक नहीं, लेकिन इस चिंता में संसदीय तौर-तरीकों को ताक पर नहीं रखा जा सकता।

विपक्षी दल संसद चलाने के प्रति बेपरवाह हो सकते हैं, लेकिन सरकार को भी ऐसे ही रवैये का परिचय देने से बचना चाहिए। आखिर सरकार संसद चलाने के मामले में अपनी प्रतिबद्धता का प्रदर्शन करके उन विपक्षी दलों को बेनकाब करने का काम क्यों नहीं करती जो किस्म-किस्म के मसलों पर अपनी चिंता भी जताते हैं और सदन चलने की नौबत भी नहीं आने देते? यदि विपक्षी दल सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाने को लेकर सचमुच गंभीर हैं तो फिर वे लोकसभा में ऐसे हालात क्यों नहीं बनने देते कि कार्यवाही आगे बढ़ सके? क्या कारण है कि लोकसभा अध्यक्ष को बार-बार यह कहना पड़ रहा है कि सदन व्यवस्थित हो तो वे अविश्वास प्रस्ताव के पक्ष वाले सांसदों की गिनती करें? तेलुगु देसम पार्टी और वाईएसआर कांग्रेस की ओर से अविश्वास प्रस्ताव का नोटिस देने के बाद कांग्रेस की ओर से भी ऐसी ही नोटिस दे दी गई है। इसके साथ ही यह साफ हो गया कि अविश्वास प्रस्ताव के पक्ष में तय संख्या में सांसद हैं। अब अगर विपक्षी दल अविश्वास प्रस्ताव को लेकर गंभीर हैं तो फिर उन्हें सत्तापक्ष को यह कहने का मौका नहीं देना चाहिए कि सदन व्यवस्थित हो तो उनकी नोटिस पर चर्चा हो। पता नहीं लोकसभा किस राह जाएगी, लेकिन यह जानना कठिन है कि राज्यसभा क्यों हंगामे से जूझ रही है?

जनसत्ता

Date: 23-03-18

साख का सवाल

संपादकीय

फेसबुक उपयोगकर्ताओं से जुड़ी सूचनाएं और जानकारियां चोरी होने और उनके बेजा इस्तेमाल की जो घटना सामने आई है, उसने न केवल सरकार बल्कि सोशल मीडिया मंचों पर सक्रिय रहने वालों की नींद उड़ा दी है। फेसबुक को लेकर भारत ही नहीं, दुनिया के कई देशों में हड़कंप मचा हुआ है। इसका पता तब चला जब अमेरिका में वहां की संघीय व्यापार एजंसी ने फेसबुक के खिलाफ जांच शुरू की। यूरोपीय देशों में भी जांच शुरू हुई। ऐसे आरोप हैं कि केंब्रिज एनालिटिक नाम की कंपनी ने फेसबुक के पांच करोड़ अमेरिकी उपयोगकर्ताओं की गोपनीय सूचनाएं चोरी कर उनका इस्तेमाल ट्रंप को राष्ट्रपति चुनाव जिताने में किया। इसी तरह 'ब्रेक्जिट' के वक्त ब्रिटेन ने भी इसका इस्तेमाल किया। ऐसे में यह सवाल उठना लाजिमी है कि क्या यह फेसबुक उपयोगकर्ताओं के साथ छल नहीं है? अगर कपटपूर्ण तरीकों का इस्तेमाल कर चुनाव जीते जाते हैं तो इससे राजनीतिक व्यवस्था भी कठघरे में खड़ी होती है।

डाटा चोरी करने वाली कंपनी केंब्रिज एनालिटिक कई देशों के लिए इस तरह की चुनाव संबंधी सेवाएं देने का काम करती है। कंपनी का भारत सहित अमेरिका, ब्रिटेन, केन्या, ब्राजील जैसे देशों में कारोबार है। डाटा चोरी का खुलासा होने के बाद कंपनी ने अपने सीईओ को हटा दिया है। फेसबुक के सीईओ ने भी इस घटना की जिम्मेदारी लेते हुए मामले की जांच कराने का आदेश दिया है। इस घटना से फेसबुक की साख को गहरा धक्का लगा है। दुनिया में भारत दूसरा देश है जहां बीस करोड़ लोग फेसबुक पर हैं। फेसबुक कंपनी कठघरे में इसलिए है कि वह अपने ग्राहकों की निजता की सुरक्षा नहीं कर पाई। डाटा-चोरी ने भारत की राजनीति में भी भूचाल-सा पैदा कर दिया है। इस हकीकत पर से पर्दा उठा है कि कैसे विदेशी कंपनियों के जरिए सोशल मीडिया के डाटा का इस्तेमाल चुनावी हवा बनाने-बिगाड़ने के लिए किया जाता रहा है। कैसे जनता को अंधेरे में रखा जाता है। चुनाव में शोध, सर्वे, रायशुमारी, विज्ञापन, प्रचार जैसे कामों के लिए राजनीतिक दल इस तरह की एजंसियों को ठेके देते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। केंद्र सरकार और मुख्य विपक्षी दल कांग्रेस दोनों इसके लपेटे में आ गए हैं।

सरकार का आरोप है कि कांग्रेस के केंब्रिज एनालिटिक से संबंध हैं और अगले आम चुनाव के लिए वह इसकी सेवाएं लेने की तैयारी में है। दूसरी ओर, सरकार के इन आरोपों को सिरे से खारिज करते हुए कांग्रेस ने दावा किया है कि सन 2010 के बिहार विधानसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी और जनता दल (एकी) ने इस कंपनी की सेवाएं ली थीं। आरोपों-प्रत्यारोपों के बरक्स लोगों के मन में जो सबसे बड़ा सवाल उठ रहा है वह है विश्वसनीयता का। फेसबुक जैसे सोशल नेटवर्क प्लेटफॉर्म कितना बड़ा खतरा हो सकते हैं निजता के लिए, यह अब सब समझ गए हैं। साथ ही, राजनीतिक पार्टियां चुनाव जीतने के लिए हमारी निजी और गोपनीय सूचनाओं का कैसे इस्तेमाल कर रही हैं यह भी अब किसी से छिपा नहीं है। हालांकि सरकार ने फेसबुक के खिलाफ कार्रवाई की बात कही है। सवाल है कि जो सरकार हजारों करोड़ रुपए डकार भाग जाने वालों को वापस ला पाने में लाचार साबित हो रही है, वह डाटा चोरी करने वाले वैश्विक चोरों से

कैसे निपटेगी? यह सूचनाओं का युग है, जिसमें डाटा से ज्यादा कीमती कुछ नहीं है। ऐसे में कैसे इसकी सुरक्षा हो और लोगों में भरोसा बना रहे, यह गंभीर चुनौती है।

Date: 23-03-18

गरीब का चेहरा

संपादकीय

यह बात काफी समय से कही जाती रही है कि भारत में सामाजिक पिछड़ापन और आर्थिक वंचना एक दूसरे से काफी हद तक जुड़े हुए हैं। बुधवार को सरकार ने लोकसभा में एक सवाल के जवाब में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के गरीबी रेखा से नीचे जी रहे लोगों की बाबत जो आंकड़े पेश किए वे उपर्युक्त हकीकत की ही पुष्टि करते हैं। सरकार की ओर से बताया गया कि अनुसूचित जनजाति के 45.3 फीसद और अनुसूचित जाति के 31.5 फीसद लोग बीपीएल यानी गरीबी रेखा से नीचे हैं। देश की आबादी में दलित पंद्रह से सोलह फीसद और आदिवासी सात से आठ फीसद हैं। लेकिन जब बीपीएल के आंकड़े पर आते हैं, तो इनका हिस्सा देश में अपनी आबादी के अनुपात में बहुत ज्यादा दिखता है, जो कि कोई हैरानी की बात नहीं है। सरकार ने जो तथ्य बताए वे पहले हुए विभिन्न सर्वेक्षणों से भी मेल खाते हैं। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक देश में इक्कीस से बाईस फीसद लोग या परिवार बीपीएल हैं। लेकिन दलितों में बीपीएल अनुपात देश के औसत से कोई दस फीसद अधिक है, और आदिवासियों में तो यह देश के औसत से दो गुने से भी कुछ ज्यादा है। यह स्थिति इसी सच्चाई की ओर इशारा करती है कि सामाजिक श्रेणीबद्धता काफी हद तक आर्थिक स्थिति का निर्धारण करती है।

हम जानते हैं कि दलितों के साथ सदियों से कैसा व्यवहार होता रहा है। वे छुआछूत समेत तमाम तरह के सामाजिक भेदभाव के शिकार रहे हैं। ऐसे में अच्छी आय वाले व सम्मानजनक रोजगार पाना उनके लिए हमेशा बहुत कठिन रहा है। यही बात आदिवासियों के बारे में भी कही जा सकती है। अगर दलितों व आदिवासियों में कुछ लोग सम्मानजनक पदों पर पहुंच सके और अच्छी आमदनी की गारंटी पा सके, तो उसका श्रेय आरक्षण को जाता है। लेकिन आरक्षण का लाभ कभी भी व्यापक नहीं हो सकता, यह हमेशा थोड़े-से लोगों तक सिमटा रहेगा। इसलिए सभी आरक्षित वर्गों में और दलितों व आदिवासियों में तो खासकर आरक्षण से लाभान्वित तबके और बाकी लोगों के बीच काफी गैर-बराबरी दिखाई देती है। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें मिलने वाला आरक्षण खत्म कर दिया जाए, बल्कि इसका अर्थ यह है कि आरक्षण उनके सशक्तीकरण का एक अपर्याप्त उपाय है; उनकी बेहतरी के अवसरों के लिए और भी कदम उठाने होंगे।

अधिकांश दलित असंगठित क्षेत्र के श्रमिक हैं जहां गुजारे लायक और सतत आय की गारंटी नहीं होती। कृषि मजदूरों में अधिकतर दलित हैं। लेकिन खेती की हालत यह है कि वह लंबे समय से घाटे का धंधा बनी हुई है। ऐसे में वे बेहतर आय की आस कहां से करें? यही बात शहर में दिहाड़ी मजदूर की बाबत भी कही जा सकती है। जंगलों की व्यावसायिक कटाई और विभिन्न परियोजनाओं के नाम पर वनभूमि से बेदखल किए जाने से आदिवासियों की हालत और बदतर हुई है। वनोपज इकट्ठा कर जीने का सहारा भी लाखों आदिवासियों से छिन चुका है। इस तरह हम देखते हैं कि बीपीएल की तस्वीर सिर्फ गरीबी की नहीं है बल्कि वह अशिक्षा, भूमिहीनता, विस्थापन और सामाजिक भेदभाव आदि की भी है। यह

भी गौरतलब है कि बीपीएल का सरकारी आंकड़ा अंतरराष्ट्रीय मापदंडों के अनुरूप नहीं है। वैश्विक पैमाने को लागू करें तो भारत में बीपीएल का आंकड़ा बहुत अधिक निकलेगा। फिर, दलितों व आदिवासियों की हालत और भी बदतर दिखाई देगी।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 23-03-18

निजता की कीमत पर

संपादकीय

चुनाव सिर्फ जनता की पसंद, नापसंद और उसके आधार पर हुआ मतदान भर नहीं होते। भारत में हम इसे हमेशा से अच्छी तरह समझते रहे हैं कि चुनाव का एक गणित होता है, एक समाजशास्त्र होता है, जो अक्सर जातिशास्त्र भी हो जाता है, चुनाव का एक अर्थशास्त्र भी होता है और सबसे बड़ी बात है कि इसका एक मनोविज्ञान भी होता है। माना यह जाता है कि जो सबको एक साथ साध लेता है, वही राज करता है। सबको साधना आसान काम नहीं है और कुछ लोगों ने तो इसे अपना व्यवसाय ही बना लिया है। हालांकि यह व्यवसाय भी कोई सीधा धंधा नहीं है और इसके साथ कई तरह के गोरखधंधे भी जुड़े रहते हैं। ताजा खबरें बता रही हैं कि जब से संचार तकनीक आई है, चुनाव का धंधा ही नहीं फल-फूल रहा, उसके गोरखधंधे भी खूब चल निकले हैं।

कैंब्रिज एनालिटिका का ताजा मामला भी हमें यही कहानी बताता है। यह ऐसी कंपनी है, जो कॉरपोरेट क्षेत्र के लिए तो आंकड़ों का खेल करती ही है, दुनिया भर के राजनीतिक दलों को हराने-जिताने के लिए भी यह काम करती है। अगर आप इस कंपनी की वेबसाइट पर जाएं, तो वहां इस तरह के तमाम दावे मिल जाएंगे। इस साइट पर कंपनी ने अमेरिका के पिछले चुनाव में डोनाल्ड ट्रंप को चुनाव जिताने का श्रेय ही नहीं लिया, बल्कि 2010 का बिहार चुनाव जिताने का श्रेय भी लिया है। अमेरिकी अखबार न्यूयॉर्क टाइम्स और ब्रिटिश अखबार गार्जियन के ताजा भंडाफोड़ में यह उजागर हुआ है कि मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए इस कंपनी ने फेसबुक से मतदाताओं की निजी जानकारियों को बड़े पैमाने पर चुराया है। जाहिर है, इससे फेसबुक भी कठघरे में खड़ा हो गया है। ध्यान रहे कि यह फेसबुक कंपनी ही थी, जिसने कुछ समय पहले भारत में गरीब लोगों को फेसबुक समेत कुछ सीमित साइट के इस्तेमाल के लिए मुफ्त इंटरनेट उपलब्ध कराने की बात की थी। इस पर काफी विवाद हुआ था और फिर कंपनी अपने प्रस्ताव से पीछे हट गई थी।

दो अखबारों के ताजा भंडाफोड़ से अमेरिका और अन्य देशों में उतना राजनीतिक भूचाल नहीं आया, जितना भारत की राजनीति में आ गया है। सभी दल एक-दूसरे पर लोगों की निजता के उल्लंघन का आरोप लगा रहे हैं। अभी यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि भारत में किस दल ने कैंब्रिज एनालिटिका या इसके जैसी अन्य कंपनियों की सेवाओं का कितना इस्तेमाल किया। यह भी संभव है कि जितने दलों ने इसका इस्तेमाल किया होगा, उतनी ही संख्या ऐसे दलों की भी होगी, जो बाद में पछताएं होंगे कि उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया। आरोपों की इस राजनीति से लोगों की निजता को बचाने का रास्ता तो खैर नहीं ही निकलेगा।

चिंता इसलिए भी है कि यह किसी दल की प्राथमिकता नहीं है। जो राजनीति लोगों की निजता के उल्लंघन पर अपनी रोटियां सेंक रही हो, उससे फिलहाल तो इसकी बहुत ज्यादा उम्मीद भी नहीं है। लेकिन यह भी सच है कि निजता का मामला इस समय दुनिया भर में बहुत बड़ा मसला बनता जा रहा है। सब जगह के राजनीतिक दल भले ही इससे मुंह चुरा रहे हों, लेकिन नागरिक अधिकार और मानव अधिकार संगठन इसे बडे पैमाने पर उठा रहे हैं। जल्द ही इसकी जरूरत हमारा दरवाजा भी खटखटाएगी। तब शायद इस अधिकार को महत्व देना हमारे राजनीतिक दलों की भी मजबूरी बन जाए।

Date: 23-03-18

स्वायत्तता ही अकेला विकल्प

हरिवंश चतुर्वेदी डायरेक्टर, बिमटेक

हाल ही में मानव संसाधन विकास मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने ट्विटर के माध्यम से यह घोषणा की कि पांच केंद्रीय विश्वविद्यालयों, 21 राज्य विश्वविद्यालयों, 26 निजी विश्वविद्यालयों और 10 कॉलेजों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) ने स्वायत्तता दे दी है। इन 62 संस्थानों को यह स्वायत्तता शैक्षणिक गुणवत्ता के आधार पर दी गई, जिसके लिए उनको नैक, बेंगलुरु द्वारा मिले स्कोर को पैमाना बनाया गया है। अब ये संस्थान अपना पाठ्यक्रम और फीस निर्धारित करने व प्रवेश प्रक्रिया तय करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त कर दिए गए हैं।

भारत की उच्च शिक्षा के विस्तार व विराट चुनौतियों की तुलना में यह सुधार घटाटोप अंधेरे में टिमटिमाते दीये की तरह है। 62 उच्च शिक्षा संस्थानों की दी गई स्वायत्तता भले ही देश की उच्च शिक्षा के एक छोटे से हिस्से को प्रभावित करें, लेकिन उससे उम्मीद जगी है कि अब उच्च शिक्षा की नौकरशाही के शिकंजे में कैद विद्या की देवी सरस्वती को भी मुक्त कराया जा सकेगा। पिछले दस वर्षों से केंद्र और राज्यों के स्तर पर उच्च शिक्षा के सुधारों को लेकर बड़े पैमाने पर चर्चाएं, बहस, संवाद व कार्यशालाएं होती रही हैं। नामी-गिरामी शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों और उद्योगपतियों की अध्यक्षता में कमेटियों व आयोगों को नियुक्त किया गया, जिन पर करोड़ों रुपये खर्च कर भारी-भरकम रिपोर्टें तैयार की गईं। इनमें सैम पित्रोदा की अध्यक्षता वाला राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (2006), प्रो यशपाल कमेटी (2009), फिक्की द्वारा मनोनीत नारायण मूर्ति कमेटी (2012) और अंबानी-बिड़ला कमेटी (2000) के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस समय यह सवाल जरूर उठेगा कि क्या स्वायत्तता अल्लादीन का जादुई चिराग है, जो उच्च शिक्षा की सभी समस्याओं का रातोंरात हल कर देगा? सवाल यह भी उठेगा कि सरकारी और निजी क्षेत्र की नामचीन संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को तो उनके ऊंचे नैक स्कोर के आधार पर पर स्वायत्तता मिल जाएगी, किंतु समुचित वित्तीय संसाधनों के अभाव और अकुशल प्रशासन के फलस्वरूप दिवालियेपन की तरफ बढ़ रहे देश के अधिकांश सरकारी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों का क्या हश्र होगा? क्या उन्हें बाजार की शक्तियों के हाथों अकाल मृत्यु का ग्रास बनने के लिए नहीं छोड़ दिया जाएगा?उच्च शिक्षा में स्वायत्तता का विचार बहुत पुराना है। यूरोपीय पुनर्जागरण के दौरान इस विचार को और अधिक बल मिला। उच्च शिक्षा की स्वायत्तता का निहितार्थ है कि कॉलेज व विश्वविद्यालयों का वातावरण वैचारिक स्वंतत्रता, खुलेपन, नवाचार व अनुसंधान पर आधारित होना चाहिए।

इसके लिए जरूरी है कि कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के दैनंदिन प्रबंधन में केंद्र, राज्य सरकारों, नौकरशाही, राजनीतिक दलों की दखलंदाजी नहीं होनी चाहिए। कुलपति व प्राचार्यों की नियुक्ति भी शिक्षाविदों द्वारा बिना किसी राजनीतिक हस्तक्षेप के होनी चाहिए। इस स्वायत्तता का विस्तार संकायों, विभागों, विश्वविद्यालय कार्यकारिणी, सीनेट, विद्वत परिषदों तक होना चाहिए। यशपाल कमेटी की यह सिफारिश थी कि विश्वविद्यालयों का प्रबंधन प्राध्यापकों के हाथों में होना चाहिए और सरकारी दखलंदाजी न्यूनतम होनी चाहिए।

आजादी के बाद का उच्च शिक्षा का इतिहास यह बताता है कि जहां पर भी स्वायत्तता के सिद्धांतों का ईमानदारी से पालन किया गया, वहां पर उच्च शिक्षा में शोध-अनुसंधान के कीर्तिमान स्थापित किए गए। आज दुनिया में भारत के आईआईएम संस्थानों में दी जाने वाली उच्च स्तरीय प्रबंध शिक्षा का लोहा माना जाता है। साठ के दशक में जब अहमदाबाद और कोलकाता में पहले दो आईआईएम स्थापित किए गए थे, तब यह प्रश्न उठा था कि उन्हें किसी विश्वविद्यालय से संबद्ध किया जाए या स्वायत्तशासी बनाया जाए। तब प्रख्यात वैज्ञानिक विक्रम साराभाई ने तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को सुझाव दिया था कि विश्वविद्यालयों को लकीर की फकीर नौकरशाही से बचाने के लिए स्वायत्तशासी बनाया जाए। नतीजतन आईआईएम संस्थान शुरू से अपने स्नातकों को डिग्री न देकर अपना डिप्लोमा (पीजीडीएम) देते रहे। संसद द्वारा 2017 में पारित आईआईएम बिल में भी स्वायत्तता को ही प्रमुख रूप से आधार बनाया गया है।

उच्च शिक्षा में स्वायत्तता व जवाबदेही एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिसका निहितार्थ है कि विश्वविद्यालयों व कॉलेजों के प्रबंध और दैनंदिन संचालन में किसी भी किस्म की बाहरी दखलंदाजी नहीं होनी चाहिए। इसी के साथ-साथ कुलपतियों और प्राचार्यों की भी जिम्मेदारी है कि वे कि वे पूरी ईमानदारी, प्रतिबद्धता से और विधि सम्मत काम करें। उन्हें सभी संबद्ध पक्षों को भरोसे में लेकर यह बताना होगा कि उनके द्वारा सभी निर्णय जनतांत्रिक ढंग व संस्था के संविधान के अनुरूप लिए गए हैं। इसके बाद अब अच्छी क्वालिटी वाले हजारों अन्य संस्थान भी स्वायत्तता की मांग करेंगे। इसके लिए जरूरी होगा कि नैक और एनबीए के अलावा कुछ अन्य एजेंसियों को भी इस काम में लगाया जाए। स्वायत्तता के मुद्दे पर कुछ शिक्षाविदों, शिक्षक संगठनों व विद्यार्थी संगठनों में यह संशय है कि इसकी आड़ में कहीं केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा पोषित सार्वजनिक विश्वविद्यालयों के अलावा अनुदानित महाविद्यालयों का धीरे-धीरे निजीकरण न कर दिया जाए।

निजी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को भी स्वायत्तता लेने के बाद अपनी सामाजिक जवाबदेही के प्रति सजग रहना चाहिए। उन्हें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उनके द्वार किसी भी गरीब या निम्न मध्यवर्गीय परिवार से आने वाले प्रतिभाशाली युवा के लिए इसलिए न बंद कर दिए जाएं कि उनके मां-बाप इन संस्थानों की भारी फीस नहीं जुटा सकते। इसके लिए निजी क्षेत्र के संस्थानों को बड़ी मात्रा में छात्रवृत्तियां व शुल्क मुक्ति देनी चाहिए। उच्च शिक्षा ने देश की अर्थव्यवस्था, शासन, सुरक्षा और नवाचार को शक्ति प्रदान की है। बहुदलीय लोकतांत्रिक प्रणाली का एक अवगुण यह रहा है कि तमाम राजनीतिक दल सत्ता पाने की होड़ में कॉलेजों व यूनिवर्सिटियों में अपने पांव जमाने के लिए उनके दैनिक कामकाज व नियुक्तियों में हस्तक्षेप करने लगे हैं। अगर हमें भारत की उच्च शिक्षा को पटरी पर लाना है, तो हमारे पास एक ही विकल्प है स्वायत्तता और जवाबदेही।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 23-03-18

In Bad Faith

Lingayats' claim to 'separate religion' status is untenable

Tahir Mahmood, [The writer is a former chair of the National Minorities Commission]

Hindu, Muslim, Christian, Brahmin, Dalit, Sunni, Shia, and so on and so forth — has not religion already divided humans enough? Has not this sickening segregation between man and man led to enough inhumanities? Why, then, boost claims for further polarisation? This is what I felt on reading what some others had to say on the Lingayats' claim to "separate religion" status. A religion can have any number of theological divisions; indeed all of them have. Our Constitution takes cognisance of and accommodates this ground reality when it speaks of "every religious denomination or any section thereof" in Article 26 and of "any section of citizens" in Article 29. But does it also sanction widening of this disgusting schism? Not, as per my reading.

Pluralism within the broad Hindu religion is basically different from sectarian diversity in dogmatic religions like Islam and Christianity. Various sects of those faiths look down upon each other as a deviation from or distortion of true faith, but this is not the case with Hinduism. There is no tradition of takfir (verdict of heresy) in Hinduism, which is an exceptionally inclusive belief system. The Supreme Court had once observed that "we find it difficult if not impossible to define Hindu religion or even adequately describe it. Unlike other religions, the Hindu religion does not claim any one prophet; it does not worship any one God; it does not subscribe to any one dogma; it does not believe in any one philosophical concept; it does not follow any one set of religious rites and performance; in fact, it does not appear to satisfy the narrow traditional features of any religion or creed." (Yagnapurushadji, 1966).

Continuing the argument, the court echoed a historical truth: "Development of Hindu religion shows that from time to time saints and reformers attempted to remove from Hindu thought and practices elements of corruption and superstition and revolted against dominance of rituals and power of priestly class; and that led to formation of different sects. In the teachings of these saints and reformers is noticeable a certain amount of divergence, but under that divergence lie broad concepts which can be treated as basic and there is a kind of subtle indescribable unity which keeps them within the sweep of broad Hindu religion."

Pursuing this logic, several distinct religious sects have been declared by the court as internal divisions within Hindu religion — followers of Anand Marg, Swaminarayana Satsang, Madhavacharya, Ramanuja, Sri Aurobindo and Ramakrishna Mission among them (Lakshmindra 1954, Chinnama 1964, Yagnapurushadji 1966, SP Mittal 1983, Jagdishwaranand 1984). The Lingayats and Veerashaivas — members of a reformist cult founded in South India by the 12th century religious philosopher Basavanna — cannot stand on a different footing. All the four Hindu law Acts of 1955-56 do list them as "forms and developments" of Hindu religion.

The case of Buddhism, Jainism and Sikhism is different: Their identity as independent religions is well established in the society, and in law. The impression that under the Constitution and codified Hindu law, followers of these "Indic religions are considered as Hindus" emanates from a gross misreading of both these sources. Resulting from a faulty and unmindful drafting of both, it cannot be seen as true intention of legislature.

The Constitution empowers the state to remove caste-based restrictions on entry into Hindu temples, suffixing a clarification that this power shall extend also to Buddhist, Jain and Sikh shrines — Article 25 (2) & Explanation II. By no dint of imagination can this provision be interpreted to mean that these three religious groups are part of the Hindu community. The four Hindu-law Acts of 1955-56 do not include them among the "forms and developments" of Hinduism and mention them separately, besides Hinduism. They apply to four religious communities — the word "Hindu" has been used in their titles and provisions for the sake of precision, since Hindus are the largest group among the communities governed by these laws.

Treating Buddhism, Jainism and Sikhism as variations of Hinduism is historically wrong and legally untenable, but so is advocacy of a "separate religion" tag for Lingayats. The Constitution concedes autonomy to all sections within every religious denomination but not the right to claim standalone status. If smaller sects in other religions — Theravada Buddhists, Terapanthi Jains, Namdhari Sikhs, Ismaili Bohra Muslims, Presbyterian Christians, to name a few — cannot lay claim to the status of independent religions detached from their roots, nor can the Lingayats and Veerashaivas. Obnoxious sectarianism is already at its height in all religions, let us not give it a fillip.

THE HINDU

Date: 23-03-18

Protecting our data

Laws to do this are non-existent in India

Mandira Moddie

After the Cambridge Analytica crisis exploded, Union Law Minister Ravi Shankar Prasad warned Facebook against the misuse of Indians' data and any attempt to influence the electoral processes of this country. Unsurprisingly, the issue subsequently took on a partisan hue after the Bharatiya Janata Party and the Congress started trading accusations about hiring the services of Cambridge Analytica. Regardless, the fact remains that a clear mention was made by representatives of that company, which stands accused of misusing the data of 50 million users stored on Facebook and rigging multiple elections worldwide, of political involvement in India.

In a sense the data of Indians has been ripe for the plucking for some time now. Statista, an online data portal, estimates that India had 281.81 million mobile phone Internet users in 2016 and would have an estimated 492.68 million mobile phone Internet users by 2022. In 2019, there would be around 258.27 million social network users in India, up from 168.1 million in 2016. Facebook is projected to reach close

to 319 million users in India by 2021. This proliferation of digital networking has provided an incredible platform for people to communicate, but its flip side is that individual users are increasingly viewed as legitimate targets for mining personal and metadata. As elsewhere, data mined from Indian users of social media may prima facie be used for relatively innocuous purposes such as targeted cross-platform advertising, but analysed in bulk, such data can provide an intimate psychological profile including ideological preferences that together help campaign managers target communications and forecast voter behaviour.

Further, certain risks to the very health of democracy stem from the dominance of social media platforms, which not only deliver personalised content to users, but in many cases privilege content based on engagement rather than quality. This limits users' access to information, which in turn leads to political polarisation and the spread of fake news. And fake news, as we know, has had a considerable impact on electoral politics to the point where it is being investigated by authorities in the U.S.

All of this raises a red flag on the question of data protection laws, which are virtually non-existent in India. It was only in 2017 that the Ministry of Electronics and Information Technology released a White Paper by a committee of experts led by former Supreme Court judge, Justice B.N. Srikrishna, on a data protection framework for India. Until that consultative process agrees upon basic principles to guide data protection laws, India will continue to suffer the existing regulatory framework under the Information Technology Act, 2000, which only identifies six types of "sensitive personal data" and requires entities handling such data to have "reasonable security practices and procedures" in place before collecting the information. The fact that the contracting parties can agree on their own rules governing the use of such data, and what security standards or privacy policies are applied, tells us all we need to know about the strength of data protection in the country.

Date: 23-03-18

Curbing misuse

Protecting innocent persons is fine, as long as the SC/ST Act is not de-fanged

EDITORIAL

Will laying down procedural safeguards to curb false accusations work against the interest of protecting the oppressed from discrimination and caste-based atrocities? This is the salient question that arises from the Supreme Court verdict that has taken note of the perception that the Scheduled Castes and the Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act, 1989, is being rampantly misused to settle personal scores and harass adversaries. On the face of it, it is difficult to fault the court's approach. It is settled law that the mere scope for misuse of an Act is not a ground to invalidate it. Constitution courts seek to preserve the spirit of such legislation on the one hand and to evolve guidelines to prevent its misuse on the other. This is precisely what the two-judge bench has aimed to do. It has ruled that Section 18, which bars grant of anticipatory bail to anyone accused of violating its provisions, is not an absolute bar on giving advance bail to those against whom, prima facie, there is no case. In addition, the Bench has prohibited the arrest of anyone merely because of a complaint that they had committed an atrocity against a Dalit or a tribal person. In respect of public servants, no arrest should be made without the

written permission of the official's appointing authority; and for private citizens, the Senior Superintendent of Police in the district should approve the arrest.

In doing this, the Supreme Court has sought to strike a balance between protecting individual liberty and preserving the spirit of a law in favour of oppressed sections. Without any doubt, atrocities against Dalits are a grim social reality, necessitating a stringent law to combat it. The Act was amended in 2015 to cover newer forms of discrimination and crimes against Dalits and tribals to add teeth to it. It is true that conviction rates under the Act remain low. The lackadaisical approach of investigators and prosecutors to bring home charges against perpetrators of such crimes among the dominant castes is reflected in statistics. Even if courts are right in taking note of the tendency to misuse this law, society and lawmakers must be justifiably worried about the sort of messaging contained in their rulings and observations. In an ideal system, as long as every charge is judicially scrutinised and every investigation or prosecution is fair and honest, one need not worry about misuse and its adverse effects. However, social realities are far from being ideal. It ought to concern us all, including the courts, that some laws designed to protect the weakest and most disempowered people do not lose their teeth. Words of caution and rules against misuse may be needed to grant relief to the innocent. But nothing should be done to de-fang the law itself.

Date: 23-03-18

Terms of separation

The move to recognise Lingayats as a separate religion must be seen in a political and historical context

Chandan Gowda teaches at Azim Premji University, Bengaluru

"Don't say, 'Who is he? Who is he?' Say, 'He is one of us. He is one of us.'" This excerpt from a popular vachana (a saying in verse form) of Basava, which views the Lingayat community as a boundless entity where there is no outsider, offers a glimpse of the radical theology of Lingayat dharma, which he founded in the 12th century. In another vachana of his, shedding "disgust" towards "others" is held out as a moral imperative alongside other foundational ones that forbid theft, murder, lies and slander for attaining inner and outer purity (shuddhi).

The Lingayats evolved elaborate rituals to mark the distinctiveness of their dharma from the Brahminical, Jaina and folk faiths existing at that time. Composed by men and women from all "castes" (or occupational backgrounds), the extensive body of vachanas are in Kannada, not Sanskrit. They elevate labour to a spiritual ideal and emphasise the equal worth of different kinds of work. They reject temple worship and forbid animal sacrifice. The Lingayats are strict vegetarians. They have their own priests to officiate over ceremonies, their own cooks. They don't cremate the dead, but bury them. These are but a few ways in which they have fashioned their distinct theology and ritual life.

Contested terrain

The scholar M.M. Kalburgi, who was assassinated in 2015, took great pains to establish the separateness of Lingayat dharma from Hinduism. Denying such a separation, other scholars like Chidananda Murthy

have argued how the concept of shoonya (nothingness) and the idea of the body in Lingayat theology derive, respectively, from the Upanishads and from older discussions of yoga. But using the latter as evidence for viewing Lingayat dharma as a sub-component of Hinduism would be anachronistic as those texts came to be viewed as "Hindu" texts many centuries later. Further, the creative transformation of borrowed notions needs independent attention.

Since its founding in the 12th century, Lingayat dharma spread across Karnataka and parts of Maharashtra and Telangana. Unfortunately, historical research on the efforts of the dozens of mathas in acquiring new converts to the Lingayat faith and, more generally, functioning as moral authorities in their regions has been scanty. The conversion (linga deekshe) of individuals into the Lingayat faith continues to happen in mathas, albeit with reduced frequency.

The Lingayats were recorded as a caste within the Hindu religion for the first time in the 1881 census done in Mysore state. Their request to be classified as a separate religion instead was turned down at the time the Indian Constitution was being finalised. The rationale: How can Shaivites not be Hindu? Still, the idea that Lingayat dharma was a distinct religion stayed alive in scholarly and public discussions.

In 2013, the All India Veerashaiva Mahasabha, the umbrella caste association founded in the early 20th century, had taken the old request to the Manmohan Singh government. The Ministry of Home Affairs turned it down noting that Lingayats were indeed Hindu. It is comical that the Ministry had based its decision on the views of 19th century British officials like C.P. Brown and Edgar Thurston!

At a large Lingayat rally in Bidar last July, when Chief Minister Siddaramaiah was asked to help recognise the Lingayat dharma as a separate religion, he offered to consider the request. Half a dozen massive rallies followed up on that demand in different parts of North Karnataka. Heads of several Lingayat mathas and a few prominent Lingayat politicians from the Congress and the Janata Dal (Secular) took the lead in mobilising the grassroots support.

Reflecting the changed nature of Lingayat mobilisation, the six-member Nagamohan Das committee, which was constituted three months ago, views Lingayats and those who believe in Basava's philosophy as belonging to a separate religion. The latter criterion is an opening offered to Veerashaivas who are clubbed with Lingayats in official documents despite their theological differences with the latter. The Siddaramaiah government has now asked the Centre to endorse the committee's view that Lingayats form a separate religion.

Lingayats versus Veerashaivas

The five Veerashaiva mathas, which predate Basava, revere Renukacharya more than Basava, and cherish scriptural texts which, unlike the Lingayat texts, are said to be accommodative of Vedic rituals. The Veerashaivas, who form a tenth of the total Lingayat population, are also known to discriminate against the Lingayats in marriage relations and other civil matters. Indeed, a few Lingayat swamis accuse the Veerashaiva mathas of bringing in caste and gender inequalities, temple worship and other practices inside a dharma that explicitly rejected them.

The Veerashaiva responses to the recent events have varied from a disavowal of the need to become a separate religion to the religion being termed "Veerashaiva-Lingayat."

Political considerations

Termed "a dominant caste" in social science scholarship, the Lingayats are about 13% of the State's population of nearly 6.5 crore. At present, 47 of the 224 MLAs are Lingayats. Electorally significant in about a hundred Assembly constituencies, the Lingayat community matters in elections.

In 2011, the then Bharatiya Janata Party (BJP) government in Karnataka declared Basava Jayanthi as a State holiday. And, last year, the Congress government mandated that a portrait of Basava adorn the walls of all government offices.

After being solidly behind the Congress until the mid-1970s, the Lingayats moved towards the Janata Party when Chief Minister Devaraj Urs began to sideline the dominant castes within the party. After the JD(S) became the more successful inheritor of the Janata Party under the leadership of H.D. Deve Gowda, a Vokkaliga, they gravitated, in the late-1990s, towards the BJP under B.S. Yeddyurappa, a Lingayat.

During Mr. Yeddyurappa's two years away from the BJP, after he formed a separate party, the Karnataka Janata Paksha, in 2012, the loss of Lingayat support badly hurt the BJP's performance in several constituencies in the 2013 State Assembly elections.

Since the Lingayat support is decisive for the BJP's electoral fortunes in Karnataka, the party's alarm about the Lingayats pulling away from Hinduism is real. But thwarting their wish to be a separate religion is not an easy option for the BJP. While the party's spin doctors work overtime to blame the Congress for "dividing Hindus", Mr. Yeddyurappa, the BJP's projected chief ministerial candidate, has offered to go along with whatever the All India Veerashaiva Mahasabha decides vis-à-vis the separate religion status for Lingayats. Indeed, he was among the signatories to the 2013 petition that the Centre had turned down.

A cultural episode too

With the recent consolidation of the Lingayat vote behind the BJP, the Congress as well as the JD(S) are keen to re-establish a support base among them. While the Siddaramaiah government's support for recognising Lingayats as a separate religious group cannot be seen outside of that strategy, it cannot have come in the absence of an already existing wish for it among them. The Lingayat swamis, in fact, were quick to express gratitude to Mr. Siddaramaiah for honouring their request.

A minority religion status does mean financial gain for the Lingayat mathas which run dozens of higher education institutions. But this factor cannot fully explain their struggle. The speeches, articles and interviews of Lingayat swamis bespeak a genuine concern about not letting the distinctive Basava philosophy be subsumed under "a sanatana Hindu dharma." Concerns about how contemporary Lingayat culture has made space for casteism and other practices abhorrent to its founding philosophy are also seen. The present controversy asks the Lingayats to re-examine their relationship with their rich moral tradition. Media discussions have served us poorly by keeping the focus on political motives and electoral gain. The episode in question offers a precious moment for self-introspection too: what makes my community different? What lies behind the rituals at home? Why were my grandparents named that way?